लालायित कला

मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

बड़ा शुभ होता है वह दिन जब कोई नया ख़ानसामाँ घर में आए और इससे भी ज़्यादा शुभ वह दिन जब वह चला जाये! चूँकि ऐसे शुभ दिन साल में कई बार आते हैं और मुँह की कड़वाहट की परीक्षा लेकर गुज़र जाते हैं। इसलिए संतोष का साँस लेना, बक़ौल शायर सिर्फ़ दो ही मौक़ों पर नसीब होताहैः

इक तेरे आने से पहले इक तेरे जाने के बाद[1]

आम तौर पर यह समझा जाता है कि बेस्वाद खाना पकाने का हुनर सिर्फ़ पढ़ी-लिखी पत्नियों को आता है लेकिन हम आँकड़ों से साबित कर सकते हैं कि पेशेवर ख़ानसामाँ इस कला में किसी से पीछे नहीं। असल बात यह है कि हमारे यहाँ हर आदमी यह समझता है कि उसे हँसना और खाना आता है। इसी वजह से पिछले सौ बरस से यह कला कोई तरक़्क़ी नहीं कर सकी। एक दिन हमने अपने दोस्त मिर्ज़ा अब्दुल-वदूद बेग से शिकायत के तौर पर कहा कि अब वह ख़ानसामाँ जो सत्तर क़िस्म के पुलाव पका सकते थे, सामूहिक रूप से धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं। जवाब में उन्होंने बिल्कुल उल्टी बात कही। कहने लगे, "ख़ानसामाँ-वानसामाँ ग़ायब नहीं हो रहे बल्कि ग़ायब हो रहा है वह सत्तर क़िस्म के पुलाव खाने वाला तबक़ा जो बटलर और ख़ानसामाँ रखता था, और उड़द की दाल भी डिनर जैकेट पहनकर खाता था। अब इस वज़ादार[2] तबक़े के लोग बावर्ची नौकर रखने के बजाय दूसरा विवाह कर लेते हैं। इसलिए कि गया-गुज़रा बावर्ची भी रोटी कपड़ा और तनख़्वाह माँगता है। जबकि विवाहिता सिर्फ़ रोटी कपड़े पर ही राज़ी हो जाती है। बल्कि अक्सरो-बेशतर खाने और पकाने के बर्तन भी साथ लाती है।

मिर्ज़ा अक्सर कहते हैं कि खुद काम करना बहुत आसान है मगर दूसरों से काम लेना बेहद कठिन। बिल्कुल उसी तरह जैसे खुद मरने के लिए किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं पड़ती। लेकिन दूसरों को मरने पर आमादा करना बड़ा मुश्किल काम है। साधारण सिपाही और जरनैल में यही फ़र्क़ है। अब इसे हमारी सख़्ती कहिए या अयोग्यता या कुछ और कि कोई ख़ानसामाँ एक हफ़्ते से ज़्यादा नहीं टिकता। ऐसा भी हुआ है कि हंडिया अगर शुबराती ने चढ़ाई तो बघार रमज़ानी ने दिया और दाल बुलाक़ी ख़ाँ ने बाँटी। संभव है उपर्युक्त सज्जन गण अपनी सफ़ाई में यह कहें किः *हम वफ़ादार नहीं तू भी तो दिलदार नहीं*[3]!

---

[1] वक़्त दो मुझपर कठिन गुज़रे हैं सारी उम्र में // इक तेरे आने से पहले इक तेरे जाने के बाद ('मुज़्तर' ख़ैराबादी)

[2] वज़ादारः अपनी रीति नीति न छोड़ने वाला; रख-रखाव वाला। (अनु.)

[3] अल्लामा इक़बाल की कविता "शिकवा" की है पंक्ति जिसमें मुसलमान खुदा से शिकवा करते हैं कि ऐ खुदाः सफ़्हे-दहर से बातिल को मिटाया हमने // नौए-इन्साँ को ग़ुलामी से छुड़ाया हमने // तेरे काबे को जबीनों से बसाया हमने // तेरे क़ुरआन को सीनों से लगाया हमने // फिर भी हमसे यह गिला है कि वफ़ादार नहीं // हम वफ़ादार, तू भी तो दिलदार नहीं

लिहाज़ा हम विस्तारपूर्ण वर्णन से परहेज़ करेंगे। हालाँकि दिल ज़रूर चाहता है कि ज़रा तफ़सील के साथ दूसरी मुश्किलों के साथ-साथ उस घबराहट को बयान करें जो उस समय महसूस होती है जब हमसे हिसाब के तौर पर यह पता लगाने को कहा जाये कि अगर नौकर की 13 दिन की तनख़्वाह 30 रुपये और खाना है, तो 9 घंटे की तनख़्वाह बिना खाने के क्या होगी? ऐसे नाज़ुक मौक़ों पर हमने सवाल को आसान करने की नीयत से अक्सर यह माक़ूल सुझाव पेश किया कि उसको पहले खाना खिला दिया जाये। लेकिन अव्वल तो वह इसपर किसी तरह राज़ी नहीं होता। दूसरे खाना तैयार होने में अभी पूरा सवा घंटा बाक़ी है और इससे आपको सैद्धांतिक रूप से सहमति होगी कि 9 घंटे की तनख़्वाह का हिसाब 10¼ घंटे के मुक़ाबले में फिर भी आसान है।

हम प्रशंसा के इच्छुक हैं, न न्याय के तलबगार। कुछ तो इस अंदेशे से कि कहीं ऐसा न हो कि जिनसे *ख़स्तगी की दाद पाने की तवक़्क़ो है वह हमसे ज़्यादा ख़स्ता-ए-तेग़-ए-सितम निकलें*[1] और कुछ इस डर से कि :

हम इल्ज़ाम उनको देते थे क़ुसूर अपना निकल आया[2]

मक़सद फ़िलहाल उन ख़ानसामाओं का परिचय कराना है जिनकी साम व दाम द्वारा सेवा करने का गर्व हमें प्राप्त हो चुका है। अगर हमारे लहजे में कहीं कड़वाहट की झलक आए तो उसे मुँह की कड़वाहट का ख़याल करते हुए, ख़ानसामाओं को क्षमा करदें।

ख़ानसामाँ से वफ़ादारी का पक्का वादा करवाने और उसे हमेशा के लिए अपना ग़ुलाम बनाने का ढंग कोई मिर्ज़ा अब्दुल-वदूद बेग से सीखे। यूँ तो उनकी सूरत ही ऐसी है कि हर ऐरे-ग़ैरे नत्थू-खैरे का बेइख़्तियार नसीहत करने को जी चाहता है लेकिन एक दिन हमने देखा कि उनका पुराना बावर्ची भी उनसे अबे-तबे करके बातें कर रहा है। हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, क्योंकि शुरफ़ा (कुलीनों) में यह अंदाज़-ए-गुफ़्तुगू सिर्फ़ घनिष्ट दोस्तों के साथ जायज़ है। गँवारों से हमेशा गंभीर गुफ़्तगू की जाती है। हमने मिर्ज़ा की तवज्जो इस पहलू की तरफ़ दिलाई तो उन्होंने जवाब दिया कि मैंने जान-बूझकर इसको इतना मुँहज़ोर और बदतमीज़ कर दिया है कि अब मेरे घर के सिवा इसका कहीं और ठिकाना नहीं हो सकता।

कुछ दिन हुए एक मिडिल फ़ेल ख़ानसामाँ नौकरी की तलाश में आ निकला और आते ही हमारा नाम और पेशा पूछा। फिर भूतपूर्व ख़ानसामाओं के पते मालूम किए। और यह कि अंतिम ख़ानसामाँ ने नौकरी क्यों छोड़ी? बातों-बातों में उन्होंने यह अनुमान भी लगाने की कोशिश की कि हम हफ़्ते में कितनी दफ़ा बाहर आमंत्रित होते हैं और रसोईघर में चीनी के बर्तनों के टूटने की आवाज़ से हमारे स्नायु-तंत्र और चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ता है। एक शर्त उन्होंने यह भी लगाई कि अगर आप गर्मीयों की छुट्टियों में पहाड़ पर जाएँगे तो पहले "वैकल्पिक मालिक" पेश करना पड़ेगा।

---

[1] हुई जिनसे तवक़्क़ो ख़स्तगी की दाद पाने की// वह हमसे भी ज़्यादा ख़स्ता-ए-तेग़-ए-सितम निकले (मिर्ज़ा ग़ालिब) यानी जिनसे उम्मीद थी कि हमारी ख़राब-हाली को समझेंगे वे तो सितम की तलवार से घायल होकर हमसे भी ज़्यादा ख़राब-हाल हैं। (अनु.)

[2] यह उज्र-ए-इम्तेहान-ए-जज़्ब-ए-दिल कैसा निकल आया //मैं इल्ज़ाम उनको देता था क़ुसूर अपना निकल आया (मोमिन)

काफ़ी हुज्जत के बाद हमें यूँ महसूस होने लगा जैसे वे हममें वही खूबियाँ तलाश कर रहे हैं जो हम उनमें ढूँढ रहे थे। यह आँख-मिचोली ख़त्म हुई और काम के समय का सवाल आया तो हमने कहा कि उसूलन हमें मेहनती आदमी पसंद हैं। खुद बेगम साहिबा सुबह पाँच बजे से रात के दस बजे तक घर के काम-काज में जुटी रहती हैं। कहने लगे,"साहिब! उनकी बात छोड़िये, वे घर की मालिक हैं। मैं तो नौकर हूँ!" साथ ही साथ उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि बर्तन नहीं मांजूँगा। झाड़ू नहीं दूँगा। ऐश-ट्रे साफ़ नहीं करूँगा। मेज़ नहीं लगाऊँगा। दावतों में हाथ नहीं धुलाऊँगा।

हमने घबराकर पूछा, "फिर क्या करोगे?"

"यह तो आप बताइए। काम आपको लेना है, मैं तो हुकुम का ग़ुलाम हूँ।"

जब सब बातें मंशा व ज़रुरत के मुताबिक़ (ज़रूरत हमारी, मंशा उनकी) तय हो गईं तब हमने डरते-डरते कहा कि भई सौदा-सुल्फ़ लाने के लिए फ़िलहाल कोई अलग नौकर नहीं है। इसलिए कुछ दिन तुम्हें सौदा भी लाना पड़ेगा। तनख़्वाह तय करलो।

फ़रमाया, "जनाब ! तनख़्वाह की फ़िक्र न कीजिए। पढ़ा लिखा आदमी हूँ। कम तनख़्वाह में भी खुश रहूँगा।"

"फिर भी?"

कहने लगे, "पछत्तर रुपये माहवार होगी। लेकिन अगर सौदा भी मुझी को लाना पड़ा तो चालीस रुपये होगी!"

उनके बाद एक ढंग का ख़ानसामाँ आया मगर बेहद दिमाग़दार मालूम होता था। हमने उसका पानी उतारने की ग़रज़ से पूछा, "मुग़लई और अंग्रेज़ी खाने आते हैं?"

"हर क़िस्म का खाना पका सकता हूँ। हुज़ूर का किस इलाक़े से ताल्लुक़ था?"

हमने सही-सही बता दिया[1]। झूम ही तो गए। कहने लगे, "मैं भी एक साल उधर काट चुका हूँ। वहाँ के बाजरे की खिचड़ी की तो दूर-दूर तक धूम है।"

और जिरह की हममें ताब न थी। लिहाज़ा उन्होंने अपने आप को हमारे यहाँ मुलाज़िम रख लिया। दूसरे दिन पुडिंग बनाते हुए उन्होंने यह रहस्योद्घाटन किया कि मैंने बारह साल अंग्रेज़ों की जूतियाँ सीधी की हैं, इसलिए बैठकर चूल्हा नहीं झोंकूँगा। मजबूरन खड़े होकर पकाने का चूल्हा बनवाया।

उनके बाद जो ख़ानसामाँ आया, उसने कहा कि मैं चपातियाँ बैठकर पकाऊँगा, मगर बुरादे की अँगीठी पर। चुनांचे लोहे की अँगीठी बनवाई। तीसरे के लिए चिकनी मिट्टी का चूल्हा बनवाना पड़ा। चौथे की माँग पर मिट्टी के तेल से जलने वाला चूल्हा ख़रीदा और पाँचवाँ ख़ानसामाँ इतने सारे चूल्हे देख कर ही भाग गया।

उस ज़ालिम का नाम याद नहीं आ रहा। अलबत्ता सूरत और नाक-नक़्शे अब तक याद हैं। नौकरी के आग़ाज़ से हम देख रहे थे कि वह अपने हाथ का पका हुआ खाना नहीं खाता, बल्कि पाबंदी से मिलागिरी होटल

---

[1] मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी का संबंध टोंक, राजस्थान से था। 1951 में पाकिस्तान (कराची) चले गए। (अनु.)

में उकड़ूं बैठकर दो पैसे की चटपटी दाल और एक आने की तन्दूरी रोटी खाता है। आख़िर एक दिन हमसे न रहा गया और हमने ज़रा सख़्ती से टोका कि "घर का खाना क्यों नहीं खाते?"

तुनककर बोला, "साहब! हाथ बेचा है, ज़बान नहीं बेची!"

उसने अत्यंत संक्षिप्त मगर साफ़-साफ़ शब्दों में यह स्पष्ट कर दिया कि अगर उसे अपने हाथ का पका खाना खाने पर मजबूर किया गया तो वह फ़ौरन इस्तीफ़ा दे देगा। उसके रवैये से हमें भी शुबहा होने लगा कि वह वाक़ई ख़राब खाना पकाता है। और हम इस तार्किक निष्कर्ष पर भी पहुँचे कि जहन्नुम में गुनहगार औरतों को उनके अपने पकाए हुए सालन ज़बरदस्ती खिलाए जाऐंगे। इसी तरह रेडियो वालों को क़ब्र में फ़रिश्ते अग्नि-गदा से मार-मारकर बार-बार उन ही के प्रसारित किए हुए प्रोग्रामों के रिकॉर्ड सुनाएँगे।

हम खाने के शौक़ीन हैं, ख़ुशामद के भूखे नहीं (हालाँकि इससे इनकार नहीं कि अपनी तारीफ़ सुनकर हमें भी अपना बनियान तंग मालूम होने लगता है)। हमने कभी यह उम्मीद नहीं की कि रसोइया खाना पकाने के बजाय हमारे गुन गाता रहे। लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं कि वह चौबीस घंटे अपने स्वर्गीय और भूतपूर्व मालिकों के गुन गाता रहे। जबकि इस तारीफ़ का असल मक़सद हमें जलाना और उन ख़ूबियों की तरफ़ ध्यान आकृष्ट कराना होता है जो हममें नहीं हैं। अक्सर समय बेतहाशा जी चाहता है कि काश हम भी स्वर्गीय होते ताकि हमारा ज़िक्र भी इतने ही प्यार से होता। कुछ बेहद क़ाबिल ख़ानसामाओं को सिर्फ़ इस दूरदर्शिता के आधार पर अलग करना पड़ा कि आइन्दा वे किसी और का नमक खाकर हमारे पक्ष में प्रोपेगंडा करते रहें। जो व्यक्ति भी आता है यही दावे करता है कि उसके भूतपूर्व स्वामी ने उसे स्याह व सफ़ेद का मालिक बना रखा था (यहाँ यह बताना बेमौक़ा न होगा कि सैद्धांतिक रूप से हम ख़ुद भी हमेशा दूसरों पर भरोसा करते हैं लेकिन रेज़गारी ज़रूर गिन लेते हैं)। एक ख़ानसामाँ ने हमें सूचित किया कि उसका पिछला "साब" इतना शरीफ़ आदमी था कि ठीक से गाली तक नहीं दे सकता था।

हमने जलकर कहा, "फिर तुमने नौकरी क्यों छोड़ी?"

तड़पकर बोले, "कौन कहता है कि ख़ुदाबख़्श ने नौकरी छोड़ी? क़िस्सा दरअसल यह है कि मेरी पाँच महीने की तनख़्वाह चढ़ गई थी और अब आपसे क्या पर्दा? सच तो यह है कि उनके घर का ख़र्च भी मैं रद्दी अख़बार और बियर की ख़ाली बोतलें बेचकर चला रहा था। उन्होंने कभी हिसाब नहीं माँगा। फिर उन्होंने एक दिन मेरी सूरत देखकर कहा कि ख़ुदाबख़्श! तुम बहुत थक गए हो। दो दिन की छुट्टी करो और अपनी सेहत बनाओ। दो दिन बाद जब मैं सेहत बनाकर लौटा तो घर ख़ाली पाया। पड़ोसियों ने बताया कि "तुम्हारा साब तो परसों ही सारा सामान बाँध कर कहीं और चला गया।" यह क़िस्सा सुनाने के बाद इस नमक हलाल ने हमसे अग्रिम तनख़्वाह माँगी ताकि अपने भूतपूर्व मालिक के मकान का किराया अदा कर सके।

पिछले साल हमारे हाल पर रहम खाकर एक शुभचिन्तक ने एक अनुभवी ख़ानसामाँ भेजा, जो हर इलाक़े के खाने पकाना जानता था। हमने कहा, "भई, और तो सब ठीक है मगर तुम सात महीने में दस नौकरियाँ छोड़ चुके हो। यह क्या बात है?"

कहने लगे, "साब! आजकल वफ़ादार मालिक कहाँ मिलता है?"

इस सितम-ईजाद[1] की बदौलत उपमहाद्वीप के हर इलाक़े बल्कि हर तहसील के खाने की खूबियाँ इस अज्ञानी, अल्पभाषी के दस्तरख़्वान पर सिमटकर आ गईं। मसलन दोपहर के खाने पर देखा कि शोरबे में मुसल्लम कैरी (अमिया) हिचकोले ले रही है और सालन इस क़दर खट्टा है कि आँखें बंद हो जाएँ और अगर बंद हों तो पट से खुल जाएँ। पूछा तो उन्होंने अवगत कराया कि दक्षिण में रईस लोग खट्टा सालन खाते हैं। और हम यह सोचते ही रह गए कि अल्लाह जाने बक़िया लोग क्या खाते होंगे।

उसी दिन शाम को हमने घबराकर पूछा कि दाल में पुराने जूतों की बू क्यों आ रही है?
जवाब में उन्होंने एक धुआँधार भाषण दिया जिसका लुब्बे-लुबाब यह था कि मारवाड़ी सेठों के फलने-फूलने और फैलने का राज़ हींग में छिपा है।

और दूसरे दिन जब हमने पूछा कि खुदा के बन्दे यह चपाती है या दस्तरख़्वान?
तो हँसकर बोले कि अपने प्यारे वतन में रोटी के क्षेत्रफल यही होते हैं।

आख़िर कई उपवासों के बाद एक दिन हमने हौसला अफ़ज़ाई के लिए कहाः

"आज तुमने चावलों का अचार बहुत अच्छा बनाया है।"

दहकते हुए तवे से बीड़ी सुलगाते हुए बोले, "बंदापरवरी है! काठियावाड़ी पुलाव में क़ोर्मे के मसाले पड़ते हैं!"

"खूब! मगर यह क़ोर्मे का मज़ा तो नहीं!"

"वहाँ क़ोर्मे में अचार का मसाला डालते हैं!"

फिर एक दिन शाम के खाने पर मिर्ज़ा ने नाक सिकोड़कर कहा, "मियाँ! क्या खीर में खटमलों का बघार दिया है?"

सफ़ेद दीवार पर कोयले से सौदे का हिसाब लिखते हुए हिक़ारत से बोले, "आपको मालूम नहीं? अवध के नवाब लगी हुई फ़ीरनी[2] खाते थे?"

"मगर तुमने देखा क्या अंजाम हुआ अवध के राज्य का?"

मुख़्तसर यह कि डेढ़ महीने तक वह सुबह व शाम हमारे स्वाद व आस्वादन को सँवारता और खाद्य व पेय पदार्थों से सार्वभौमिकता का पाठ पढ़ाता रहा। आख़िर-आख़िर में मिर्ज़ा को शुबहा हो चला था कि वह विदेशी एजेंट है जो सालन के ज़रिये सूबाई ग़लतफ़हमियाँ फैला रहा है।

अगर आप को कोई खाना बेहद पसंद है जो छुड़ाए नहीं छूटता तो रसोईघर की बिसात पर नावागंतुक ख़ानसामाँ इस मुश्किल को फ़ौरन आसान कर देंगे। खाद्य पदार्थों और इन्सानी पेट के साथ भरपूर परीक्षण करने की जो आज़ादी बावर्चियों को प्राप्त है वह नित-नए रासायनिक आविष्कारों की पोषक है। मिसाल के तौर पर हमें भिंडी बहुत पसंद है लेकिन दस घंटे पहले यह रहस्योद्घाटन हुआ कि इस ताज़ा वनस्पति को एक ख़ास तापमान पर पानी की निर्धारित मात्रा में(जिसका ज्ञान सिर्फ़ हमारे ख़ानसामाँ को है) मीठी आँच पर

---

[1] सितम-ईजादः ऐसा ज़ालिम जो नए-नए सितम ईजाद करता हो ; वह जिसके घर पर ज़ुल्म की बुनियाद पड़ी हो। (अनु.)
[2] लगी हुई फ़ीरनीः ऐसी फ़ीरनी जो पेंदे में हल्की से जल जाती है और सोंधापन पैदा करती है। (अनु.)

पकाया जाये तो इस मिश्रण से दफ़्तरों में लिफ़ाफ़े और बदलगाम अफ़सरों के मुँह हमेशा के लिए बंद किए जा सकते हैं।

इन्ही महोदय ने पिछले गुरूवार को सारा घर सिर पर उठा रखा था। हमने बच्ची को भेजा कि उससे कहो कि मेहमान बैठे हैं। इस समय सिल कूटने की ज़रूरत नहीं। उसने कहला भेजा कि हम इन्ही मेहमानों की ख़ातिरदारी के लिए सिल पर कबाबों का क़ीमा पीस रहे हैं। थोड़ी देर बाद हमने कबाब मुँह में रखा तो महसूस हुआ मानो चटपटा रेगमाल खा रहे हैं और हमें रह-रहकर मीर साहिब पर रश्क आने लगा कि वे कृत्रिम बत्तीसी लगाए बेख़बर बैठे खा रहे थे और हमारी तरह किरकिरा महसूस करके लाल पीले नहीं हुए। सुबह तक सबको पेचिश हो गई। सिर्फ़ हमें नहीं हुई और हमें इसलिए नहीं हुई कि हम पहले ही इससे पीड़ित थे।

यह बात नहीं कि ख़ुदा-ना-ख़ास्ता हम बीमारी और मौत से डरते हैं। हम तो पुरानी चाल के आदमी हैं। इसलिए नई ज़िंदगी से ज़्यादा ख़ौफ़ खाते हैं। मौत तो आनी है और एक न एक दिन ज़रूर आएगी। बात सिर्फ़ इतनी है कि इसे बुलाने के लिए हम अपनी गाढ़ी कमाई में से पच्चास साठ रुपये माहवार ख़र्च नहीं करना चाहते। हमें किसी नीम-हकीम के हाथों मरने पर भी बिल्कुल आपत्ति न होगी। लेकिन हम किसी सूरत भी ख़ानसामाँ को क़िस्तवार रूह क़ब्ज़ करने का अधिकार नहीं देना चाहते कि यह सिर्फ़ हकीम-डाक्टरों का हक़ है।

बीमारी की चर्चा चल निकली तो उस भीमकाय ख़ानसामाँ का क़िस्सा भी सुन लीजिए जिसको हम सब आग़ा कहा करते थे (आग़ा इसलिए कहा करते थे कि वे सचमुच आग़ा थे)। उनका ख़याल आते ही पेट में महताबियाँ सी जल उठती हैं। विदाई के अंतिम क्षण तक उनके खाना पकाने, और खिलाने का अंदाज़ वही रहा जो नौकरी से पहले हींग बेचने का होता था-----यानी डरा धमकाकर उसकी ख़ूबियाँ मनवा लेते थे। आम तौर पर सुबह नाशते के बाद सोकर उठते थे। कुछ दिन हमने सुबह तड़के जगाने की कोशिश की लेकिन जब उन्होंने नींद की आड़ में हाथापाई करने की कोशिश की तो हमने भी उनके सुधार का विचार त्याग दिया। इसको नज़रअंदाज़ करदें तो वे काफ़ी आज्ञाकारी थे। आज्ञाकारी से हमारा तात्पर्य यह है कि कभी वे पूछते कि चाय लाऊँ? और हम तकल्लुफ़न कहते कि जी चाहे तो ले आओ वर्ना नहीं। तो कभी वाक़ई ले आते और कभी नहीं भी लाते थे। जिस दिन से उन्होंने बावर्चीख़ाना सँभाला, घर में हकीम-डाक्टरों की रेल-पेल होने लगी। यूँ भी उनका पकाया हुआ खाना देखकर सिर(अपना) पीटने को जी चाहता था। "अपना" इसलिए कि हालाँकि हम सब ही उनके खानों से तंग आ चुके थे, लेकिन किसी की समझ में नहीं आता था कि उनको कैसे शांतिपूर्ण तरीक़े से विदा किया जाए। उनको नौकर रखना ऐसा ही साबित हुआ जैसे कोई बब्बर शेर पर सवार हो तो जाये लेकिन उतरने की हिम्मत न रखता हो।

एक दिन हम इसी उधेड़बुन में लेटे हुए गर्म पानी की बोतल से पेट सेंक रहे थे और दवा पी-पीकर उनको कोस रहे थे कि सिर झुकाए आए और आदत के विपरीत हाथ जोड़कर बोले, "ख़ू! साब! तुम रोज़-रोज़ बीमार ओता ए। इससे अमारा क़बीला में बड़ा रुस्वाई, ख़ू, ख़ाना-ख़राब ओता ए" (साहिब! तुम बार-बार बीमार होते

हो। इससे हमारे क़बीले में हमारी बदनामी होती है और हमारा ख़ाना-ख़राब होता[I] है।) इसके बाद उन्होंने कहा-सुना माफ़ कराया, और बिना तनख़्वाह लिए चल दिए।

ऐसी ही एक और दावत का ज़िक्र है जिसमें चंद दोस्त और उच्च अधिकारी आमंत्रित थे। नए ख़ानसामाँ ने जो क़ोर्मा पकाया, उसमें शोरबे का यह आलम था कि नाक पकड़के गोते लगाऐं तो शायद कोई बोटी हाथ आ जाए। इक्का-दुक्का कहीं नज़र आ भी जाती तो कुछ इस तरह कि: *साफ़ छुपती भी नहीं सामने आती भी नहीं*[II]। और यह बहुत ग़नीमत थी क्योंकि मेहमान के मुँह में पहुँचने के बाद, ग़ालिब के अल्फ़ाज़ में, यह हालत थी कि: *खींचता है जिस क़दर उतनी ही खिंचती जाये है*[III]!

दावत के दौरान दोस्तों ने बेहद संजीदगी से मश्वरा दिया कि "रेफ़्रीजरेटर ख़रीद लो। रोज़-रोज़ की झख-झख से निजात मिल जाएगी। बस एक दिन लज़ीज़ खाना पकवालो और हफ़्ते भर ठाठ से खाओ और खिलाओ।"

क़िस्तों पर रेफ़्रीजरेटर ख़रीदने के बाद हमें वाक़ई बड़ा फ़र्क़ महसूस हुआ और वह फ़र्क़ यह है कि पहले जो बदमज़ा खाना सिर्फ़ एक ही वक़्त खाते थे, अब उसे हफ़्ते भर खाना पड़ता है।

हमने इस सतत यातना की शिकायत की तो वही मित्र उपदेश देने लगे कि "*जब ख़र्च किया है सब्र भी कर, इसमें तो यही कुछ होता है*[IV]।"

कल फिर मिर्ज़ा से अपनी तरह-तरह की मुश्किलों का ज़िक्र किया तो कहने लगे:

"ये उलझनें आपने अपने चटोरपन से ख़ामख़ाह पैदा कर रखी हैं। वर्ना सादा भोजन और उच्च विचार से यह समस्या कभी की खुद-बखुद हल हो गई होती। यही प्रकृति का नियम है और यही स्वतन्त्र संस्कृति की बुनियाद भी! आपने मौलवी इस्माईल मेरठी का वह पाकीज़ा शर नहीं पढ़ा?

मिले खुश्क रोटी जो आज़ाद रह कर
तो वह ख़ौफ़ो-ज़िल्लत के हलवे से बेहतर

अर्ज़ किया, "मुझे किसी के आज़ाद रहने पर, चाहे वह शायर ही क्यों न हो, कोई ऐतराज़ नहीं। लेकिन इस शेर पर मुझे अरसे से यह ऐतराज़ है कि इसमें आज़ादी से ज़्यादा खुश्क (सूखी) रोटी की तारीफ़ की गई है। संभव है उम्दा भोजन उच्च संस्कृति को जन्म न दे सके, लेकिन उच्च संस्कृति कभी ख़राब भोजन बर्दाश्त नहीं कर सकती।"

फ़रमाया, "बर्दाश्त की एक ही रही! ख़राब खाना खाकर बदमज़ा न होना, यही शराफ़त की दलील है।"

[I] ख़ाना-ख़राब होना: घर उजड़ना या बिगड़ना

[II] ख़ूब पर्दा है कि चिलमन से लगे बैठे हैं //साफ़ छुपते भी नहीं सामने आते भी नहीं ('दाग़' देहलवी)

[III] नक़्श को उसके मुसव्विर पर भी कितना नाज़ है //खींचता है जिस क़दर उतना ही खिंचता जाये है (ग़ालिब)

[IV] क्यों हिज्र के शिकवे करता है क्यों दर्द के रोने रोता है //जब इश्क़ किया तो सब्र भी कर इसमें तो यही कुछ होता है (हफ़ीज़ जालंधरी)

अर्ज़ किया, "मर्दानगी तो यह है कि आदमी अरसे तक उम्दा भोजन खाए और शराफ़त के जामे से बाहर न हो!"

भड़क गए, "ठीक! लेकिन यह कहाँ की शराफ़त है कि आदमी उठते-बैठते खाने का ज़िक्र करता रहे। बुरा न मानिएगा। आपके कुछ लेख किसी बिगड़े हुए शाही रिकाबदार की ख़ानदानी बयाज़ (डायरी) मालूम होते हैं। जभी तो कम पढ़ी-लिखी औरतें बड़े शौक़ से पढ़ती हैं।"

हमने टोका, "आप भूल रहे हैं कि फ़्रांस में खाना खाने और पकाने का शुमार ललित-कला मैं होता है।" वे बिगड़ गए, "मगर आपने तो उसे लालायित-कला का दर्जा दे रखा है। अगर आप वाक़ई अपनी बेक़ुसूर क़ौम के सुधार के पीछे पड़े हैं तो कोई काम की बात कीजिए और तरक़्क़ी की राहें सुझाइए।"

मज़ा लेने की ख़ातिर छेड़ा, "एक दफ़ा क़ौम को अच्छा पहनने और खाने का चस्का लग गया तो तरक़्क़ी की राहें खुद-बखुद सूझ जाएँगी। गांधी जी का कथन है कि जिस देश में लाखों आदमियों को दो समय का भोजन नसीब न होता हो, वहाँ भगवान की भी हिम्मत नहीं होती कि अन्नदाता के अतिरिक्त किसी और रूप में सामने आ सके। भूखे के लिए भोजन ही भगवान का अवतार है और---- "

बात काटने की माफ़ी माँगे बग़ैर बोले, "मगर वह तो बकरी का दूध और खजूर खाते थे और आप पाक-कला-मर्मज्ञता को ईश्वर-प्राप्ति का दर्शन समझ बैठे हैं। खुद आपके प्रिय यूनानी दार्शनिक भरपूर ज़िंदगी के क़ायल थे, दिमाग़ से महसूस करते और दिल से सोचते थे। मगर आप तो पेट से सोचते हैं और देखा जाये तो आप आज भी वही मश्वरा दे रहे हैं जो रानी मेरी अंतोनियो ने दिया था। एक दरबारी ने जब उसको सूचित किया कि रोटी न मिलने के कारण हज़ारों इंसान पैरिस की गलियों में दम तोड़ रहे हैं तो उसने हैरत से पूछा कि "ये मूर्ख केक क्यों नहीं खाते"?

(चिराग़ तले)

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क